

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

आत्मपरिष्कार - लोकसाधना - प्रकरण

द्वितीये दिवसे तत्र नियते समये समे।

आगता नियतस्थाने मुनयस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥

समवेतस्वरे मंत्रोच्चारं प्रारब्धमुत्तमम्।

ज्ञानसत्रं प्रश्नकर्ता कश्यपोऽभून्महामतिः ॥ २ ॥

स्वकीयां प्रश्न - जिज्ञासां समुपस्थापयँश्च सः।

याज्ञवल्क्यं ज्ञानसत्राधिष्ठातारं पप्रच्छ च ॥ ३ ॥

टीका—नियत समय पर, नियत स्थान पर लोकमंगल की कामना से परिपूरित सभी मुनि मनीषी एकत्रित हुए। सामूहिक मंत्रोच्चार के उपरान्त ज्ञान सत्र प्रारंभ हुआ। आज के प्रश्नकर्ता महामनीषी कश्यप थे। उन्होंने प्रथम जिज्ञासा उपस्थित करते हुए प्रस्तुत ज्ञान सत्र के अधिष्ठाता ऋषि श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से पूछा ॥ १-३ ॥

कश्यप उवाच—

भवता हे महाभाग! प्रथमे दिवसे नरः।

स्वस्य भाग्यस्य निर्माता कथितः स्वयमेव हि ॥ ४ ॥

तद् बोधयन् मनुष्यस्य पतनोत्थानयोरपि।

कर्मणः प्रक्रियां हेतुं भवान् बोधितवान् प्रभो ॥ ५ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि क्रियंते कुत एव हि।

हानीर्जानन् कथं मर्त्यो दुष्कर्म निरतोऽस्ति स्तः ॥ ६ ॥

लाभान् सत्कर्मजान् जानन्नपि नैतानि कुर्वते।

कथं सदा शुभोपेक्षा चलत्यशुभसंरतिः ॥ ७ ॥

ऋषिवर्य महत्यास्तु सृष्टेः सञ्चालने नरः।

सहयोगी प्रभोः किं तत् प्रयासं याति नानुगम् ॥ ८ ॥

स्पष्टतां नीयतामेतद् रहस्यं येन मानवः।

भवेद्धन्यः प्रभोस्तस्य योजनामनुसंचलन् ॥ ९ ॥

टीका—कश्यप बोले, हे महाभाग! गत् दिवस आपने मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बताया और उसके उत्थान-पतन का कारण कर्म प्रक्रिया को बताया। वह शुभ-अशुभ कर्म क्यों कर बन पड़ते हैं? हानियों को समझने-समझाने पर भी मनुष्य क्यों दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है? सत्कर्मों का लाभ जानते हुए भी उन्हें करने के लिए क्यों तत्पर नहीं होता? शुभ की अपेक्षा अशुभ की तत्परता का प्रवाह किस कारण चलता रहता है? हे ऋषि श्रेष्ठ इस महान सृष्टि के संचालन में मनुष्य ईश्वर का सहयोगी तो है, किंतु वह उसके अनुरूप प्रयास क्यों नहीं करता? इस रहस्य को स्पष्ट करें, ताकि मनुष्य ईश्वरीय योजना के अनुरूप चलकर अपना जीवन धन्य बना सके ॥ ४-९ ॥

यहाँ ऋषि ने तीन सूत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

(१) अशुभ के प्रति आकर्षण।

(२) शुभ की उपेक्षा।

(३) मनुष्य जीवन के अनुरूप प्रयास का अभाव।

इनमें ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य को प्राणी जगत में सर्वोपरि रखा गया है, बुद्धि और विवेक के रूप में अन्य श्रेष्ठ उपादान भी मिले हैं, जिनका अन्य जीवों में सर्वथा अभाव है, पर इतना सब होते हुए भी वह अपने क्रियाकलापों व प्रयास मनुष्य स्तर का नहीं रख पाता और क्षुद्र जीवों जैसी

गतिविधियाँ अपनाकर स्वयं को उस श्रेय-सौभाग्य से वंचित कर लेता है, जो उसे प्रदान किया गया है। वह चाहे तो शुभ कर्मों में संलग्न कर स्वयं को श्रेष्ठ बना सकता है और भगवान की इस विश्ववाटिका को सींचने-सँवारने में अपनी सहयोगी भूमिका निभाकर धन्य बन सकता है, पर बहुधा आज ऐसा देखा नहीं जाता। समाज का एक बड़ा वर्ग अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्त पाया जाता है, यह सबसे बड़ी विडंबना है।

याज्ञवल्क्य उवाच-

तात! गूढस्तवैषोऽस्ति प्रश्नः श्रेयस्करस्तथा।
आकर्ण्यस्य समाधानमसंख्यानां नृणां स्वयम् ॥ १० ॥
उन्मेषो दिव्यदृष्ट्यास्तु भविष्यति न संशयः।
भ्रांतेश्च विरतास्ते स्युर्लोकद्वयरताः सदा ॥ ११ ॥
दिव्याभिः क्षमताभिस्तु संपन्नस्तात् मानवः।
सत्यमेतदिमे संति अंतःस्था बीजरूपाः ॥ १२ ॥
ऐश्वराणि तु कार्याणि यानि तेभ्य इमाः स्वयम्।
विकासमधिगच्छन्ति प्रयुज्यन्ते च नान्यथा ॥ १३ ॥
अपेक्षया विकासस्य तासां केवलमातुराः।
मानवा उपयोगाय त्रुटिरेषैव मौलिकी ॥ १४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात! आपका प्रश्न बहुत ही गूढ़ और श्रेयस्कर है। इसका समाधान सुनकर असंख्याओं के ज्ञान कपाट खुलेंगे और वे भटकाव से विरत होकर अपने लोक-परलोक को समुन्नत बना सकेंगे। हे तात मनुष्य दिव्य क्षमता संपन्न है यह सत्य है, किंतु यह सत्य भी अपनी जगह अटल है कि ये क्षमताएँ अंतःक्षेत्र में बीजरूप में अवस्थित होती हैं। वे ईश्वरीय उद्देश्यों के लिए ही विकसित एवं प्रयुक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। मनुष्य उन्हें विकसित करने की अपेक्षा उनके उपयोग के लिए आतुर हो उठता है, यही उसकी मौलिक भूल है ॥ १०-१४ ॥

यहाँ ऋषि यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मनुष्य में जो दिव्य क्षमताएँ हैं, वह ईश्वरीय अनुदान-उपहार नहीं, वरन् धरोहर स्वरूप हैं। स्पष्ट है, धरोहर चाहे जिस प्रकार की हो, उसके उपयोग के संबंध में व्यक्ति मनमानी नहीं कर सकता। इसमें उस व्यक्ति की सम्मति अभीष्ट होती है, जिसकी अमानत हैं। दिव्य क्षमताओं के संबंध में भी यही बात लागू होती है।

ईश्वर को उच्चस्तरीय निर्धारणाएँ, उच्चस्तरीय प्रयोजन प्रिय हैं। जो इस निमित्त क्षमताओं के विकास की बात सोचता और तत्परता दिखाता है, वही इन्हें उपलब्ध कर पाता है, किंतु यदि कोई स्वार्थ के वशीभूत हो ऐसा करना चाहे, तो यह संभव नहीं। यह विशुद्धतः पारमार्थिक है और उसी को यह अनुदान मिल पाता है, जो प्रथम अनुबंध के रूप में परमार्थ परायणता का व्रत ले पाता है।

अंतःकरणमेवास्ति जीवात्मनः स आश्रयः।
जन्मांतर - कुसंस्काराः क्षेत्रेऽस्मिन् सिञ्चितास्तु ये ॥ १५ ॥
हेयस्तरानुरूपाणां प्राणिनामिव तत्र याः।
आकांक्षास्ताः समुद्भूताः कुर्वन्त्येते भृशं सदा ॥ १६ ॥
अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य आकांक्षैवास्ति मुख्यतः।
शक्तिस्तस्याः समुद्वेगा आश्रयंति तु यं स्तरम् ॥ १७ ॥
तेषामेव तु पूर्तौ तन्मनः संस्थानमाचरेत्।
नरस्य स्वामिभक्तस्य चेष्टा उच्चावचाः स्वयम् ॥ १८ ॥
मनसस्तु शरीरं हि सेवकस्तस्य चाज्ञया।
चेष्टते विवशं तात आकांक्षाया विचारणा ॥ १९ ॥
मता विचारणोत्पन्ना क्रिया ताः केंद्रिता अपि।
हेतवोऽन्तरिहोत्थान पतनाद्यवबोधकाः ॥ २० ॥
टीका—अंतःकरण ही जीवात्मा का आश्रय स्थल है।

इस क्षेत्र में जन्म-जन्मांतरों के भरे कुसंस्कार हेय स्तर के प्राणियों जैसी आकांक्षाएँ उत्पन्न करते हैं। आकांक्षा ही अध्यात्म जगत की प्रमुख शक्ति है। उसकी उमंगें जिस स्तर की होती हैं, उसी की पूर्ति मनःसंस्थान को स्वामिभक्त सेवक की तरह ताना-बाना बुनना पड़ता है। मन का शरीर सेवक है। शरीर को मन का आदेश मानना पड़ता है। आकांक्षा से विचारणा और विचारणा से क्रिया बनती है। उत्थान-पतन के आधारभूत कारण अंतःकरण में ही केंद्रित रहते हैं ॥ १५-२० ॥

मनुष्य जीवन में आकांक्षा सर्वोपरि है। इसका चक्र जिस दायरे में घूमता है, चिंतन भी उसी के इर्द-गिर्द चलता है और उसी स्तर की क्रिया के लिए विवश करता है। चिंतन और क्रिया दोनों मिलकर व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। अब यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह निम्न स्तर की इच्छा, आकांक्षा और क्रिया द्वारा स्वयं को कुमार्गगामी बनाए या उत्कृष्ट चिंतन और उदात्त क्रिया द्वारा सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करे। वस्तुतः उत्थान-पतन के मूल में व्यक्ति की इच्छा-आकांक्षा की ही प्रमुख भूमिका रहती है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र में भी इसी का प्रतिपादन है।

नचिकेता को जब ब्रह्म की जिज्ञासा हुई, तो उसने उसे पा ही लिया। यमाचार्य के अनेकानेक प्रलोभनों के बाद भी उसकी ब्रह्म को जानने की इच्छा-आकांक्षा मिटी नहीं और अंततः जान ही लिया।

रत्नाकर डाकू को जब तक लूटपाट में मजा आता रहा, विचारणाएँ, आकांक्षाएँ क्षुद्रस्तरीय बनी रहीं, तब तक तो वह नर-पामर स्तर का दस्तु बना रहा, किंतु नारद के संपर्क में आकर ज्यों ही उसका चिंतन बदला तो क्रिया स्वतः बदल गई और वह रत्नाकर से महान ऋषि वाल्मीकि बन गया।

अंगुलिमाल, अजामिल, अंबपाली, गणिका आदि में भी जब उत्कृष्ट आदर्शवादिता की ललक उभरी, तो वे हेय से

५.१२ प्रज्ञोपनिषद्

महान बन गए।

ऋषि कहते हैं कि वह आकांक्षा की ही फलश्रुति है कि जब जिस ओर चल पड़ती है, उसे पाकर ही दम लेती है। प्रकारांतर से यही उसकी प्रगति-अवगति है।

सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैर्मुक्ता नैव तु ये नराः।

दुरास्थाश्च दुराकांक्षाः पशुतुल्याः श्रयंति ते॥ २१॥

मानवस्य शरीरस्यावाप्तिर्नैव परं मता।

भाग्यवंतस्तु ते मर्त्यास्तरांत आश्रयंति ये॥ २२॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।

कथ्यते तात विद्वदिभरंतःकरणसंज्ञकम्॥ २३॥

टीका—संचित कुसंस्कारों से जो छुटकारा नहीं पाते, वे नर पशुओं जैसी हेयस्तर की आस्थाएँ, आकांक्षाएँ, आदतें अपने ऊपर लादे रहते हैं। मनुष्य शरीर पाना ही पर्याप्त नहीं, सौभाग्यशाली वे हैं, जो मनुष्य स्तर का अंतःकरण उपलब्ध कर सकें। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय ही अंतःकरण कहलाता है॥ २१-२३॥

महात्मा गाँधी, संत विनोबा, विवेकानंद आदि अपने मानवी अंतःकरण के कारण ही सौभाग्यशाली कहलाए और महान बने। निकृष्ट स्तर का विल्वमंगल अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही मनुष्य स्तर का अंतःकरण उपलब्ध करने का सौभाग्य अर्जित कर सका।

इन पंक्तियों में ऋषि यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य शरीर प्राप्त करना ही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्ता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अंदर उच्चस्तरीय विचारणा, भावना, इच्छा, आकांक्षा, विकसित कर सका या नहीं। जो ऐसा कर पाते हैं, सही अर्थों में मनुष्य वही कहलाते हैं।

तथ्यमेतत् सुविदितं प्रवाहो वारिणः स्वयम्।

निम्नं धावति भूमेः सा गुरुत्वाकर्षणे रिता॥ २४॥

सुशक्तिः सेव, सर्वास्ताः पाशव्यः शक्तयः सदा।

सक्रियाः संति पातायाति मात्रं प्रेरयंति च॥ २५॥

आत्मानं तु ततो मोक्तुं पौरुषं भावनामयम्।

कर्तुं योग्या नरा एव उच्चां गच्छंति संस्थितिम्॥ २६॥

उच्चान् लोकांश्च गच्छंति सद्गतीः प्राप्नुवंति च।

आत्मिकीः सुविभूतीस्ताः भौतिकीः संपदा अपि॥ २७॥

उपलब्धुं नरा आत्मपरिष्काररतास्तु ये।

सफलास्ते भवन्त्येव पराक्रमसुसाधनाः॥ २८॥

टीका—यह एक सुविदित तथ्य है कि पानी का प्रवाह स्वभावतः नीचे की ओर होता है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह पाशविक प्रवृत्तियाँ निरंतर सक्रिय रहती हैं और पतन के लिए आकर्षक दबाव डालती हैं। उससे मुक्त होने का भावनात्मक पुरुषार्थ कर सकने वाले ही ऊँचे उठते हैं। वे ही उच्च लोकों को गमन करते व सद्गति प्राप्त करते

हैं। आत्मिक विभूतियों और भौतिक संपदाओं को उपलब्ध करने में ऐसे आत्म परिष्काररत पराक्रमी ही सफल होते हैं। ऐसा पराक्रम ही साधना कहलाता है॥ २४-२८॥

प्रवाह की दो धाराएँ हैं एक अधोगामी और दूसरी ऊर्ध्वगामी। अधोगामी धारा स्वतः गतिशील होती है, इसमें किसी अतिरिक्त बल अथवा प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु ऊर्ध्वगामी धारा को व्यक्तिगत प्रयत्न-पुरुषार्थ के माध्यम से प्रवाहमान बनाया जाता है, तभी उसकी निरंतरता बनी रहती है।

पतंग उड़ते समय उसे ऊपर बनाए रखने के लिए सदा डोरी का नियंत्रण उस पर बनाए रखना पड़ता है और समय-समय पर डोरी की खींचतान करनी पड़ती है। ज्योंहि डोरी हाथ से छूटती, व नियंत्रण हटता है, पतंग का प्रवाह निम्नगामी हो जाता है, और वह गिर पड़ती है। इसी प्रकार पानी का प्रवाह यदि मोड़ना हो, उसे नीचे से ऊपर की ओर ले जाना हो, तो इसके लिए बड़े स्तर का प्रयास अभीष्ट होता है और विद्युत मोटरों जैसे यंत्रों का सहारा लेना पड़ता है। इससे कम में वह प्रयोजन सधता नहीं है।

ऋषि यहाँ कहते हैं कि हमारी दुष्प्रवृत्तियाँ भी इसी स्तर की हैं। उसकी गति सदा नीचे की ओर होती है और गुरुत्वाकर्षण की तरह अधोगामी बनाने की अद्भुत शक्ति रखती है। इनसे उबरने और अपनी वृत्तियों को मोड़ने के लिए व्यक्ति को पतंगबाज एवं मोटर स्तर का प्रयत्न-पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी पराक्रम को साधना की संज्ञा दी गई है।

यों साधना आत्मिक शक्ति संपादन के लिए अपनाए गए क्रिया-कृत्यों को भी कहते हैं, पर ऋषि का कहना है कि व्यावहारिक जीवन में दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होना और अपने को परिष्कृत बनाना ही सही अर्थों में सच्ची साधना है। जो यह पराक्रम कर पाते हैं, वही पारलौकिक जीवन में स्वर्ग मुक्ति जैसा आनंद और इहलौकिक जीवन में तृप्ति, शांति जैसी आत्मिक व धन-ऐश्वर्य जैसी भौतिक संपदाओं का लाभ उठा पाते हैं।

संतुष्टस्तु बभूवासौ जिज्ञासुः कश्यपो मुनिः।

अन्यज्ज्ञातुं स औत्सुक्यात्प्राज्ञं संबोध्य चागदीत्॥ २९॥

कश्यप उवाच—

इदं ज्ञातमभूदेव! मानवः क्षमता निजाः।

उपयोक्तुं वर्धितुं च विधौ मुह्यन् पतत्यधः॥ ३०॥

किंतु जानंति ये त्वेतत् साधनां च पराक्रमम्।

कथं क्रियान्विते कुर्युः प्रक्रियां स्पष्टय प्रभो॥ ३१॥

टीका—जिज्ञासु कश्यप इस समाधान से संतुष्ट तो हुए, परंतु और भी अधिक जानने की उत्सुकतावश उन्होंने महाप्राज्ञ को संबोधित करते हुए अपना दूसरा प्रश्न प्रस्तुत किया।

कश्यप बोले, हे देव यह तो विदित हुआ कि मनुष्य अपनी क्षमताओं के सदुपयोग एवं उन्हें विकसित करने की आवश्यकता को न समझ पा सकने के कारण ही गिरता है, किंतु जो इसे समझ पाते हैं वे इस साधना पराक्रम को कैसे क्रियान्वित करें, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करें ॥ २९-३१ ॥

महाप्राज्ञो याज्ञवल्क्य उवाचात्र विचारयन् ।
तात आत्मपरिष्कारे निरतो ना हि बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥
साधनात्मकरूपा या प्रयत्नपरिशीलता ।
सैव तान् सार्वभौमाया उन्नेतेर्दिव्यदानकैः ॥ ३३ ॥
युतान् करोति ये चैतदवलंबन संयुताः ।
नरजन्मस्थ सौभाग्यं श्रेयस्तेऽथापि यान्त्यलम् ॥ ३४ ॥
अस्या आवश्यकतां ये न जानन्त्यपि संरताः ।
वासनेन्द्रिय लिप्साया प्रदर्शनकुदर्पके ॥ ३५ ॥
भ्रमन्ति मृगतृष्णायां बहुमूल्यैश्च हापिताः ।
सौभाग्यैरात्मसंस्कार उन्त्यै वर्त्म केवलम् ॥ ३६ ॥

टीका—महाप्राज्ञ याज्ञवल्क्य विचारकर बोले हे तात ! आत्मपरिष्कार में निरत मनुष्य ही सच्चे अर्थों में बुद्धिमान है । साधनात्मक प्रयत्नशीलता ही उन्हें सर्वतोमुखी प्रगति के दिव्य वरदानों से लादती है । जो इस अवलंबन को अपनाते हैं, वे मनुष्य जन्म के साथ जुड़े हुए श्रेय सौभाग्य का लाभ लेते हैं । जो इसकी आवश्यकता नहीं समझते, इंद्रियों की लिप्सा-वासनाओं की तृष्णा और प्रदर्शन की अहंता में उलझे रहते हैं, वे भ्रम जंजालों में भटकते और अपने बहुमूल्य सौभाग्य को हाथ से गँवा देते हैं । उत्थान का एक ही उपाय है आत्मपरिष्कार ॥ ३२-३६ ॥

महामुनि कश्यप की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि मनुष्य का उत्थान और विकास आत्मशोधन के साथ जुड़ा हुआ है । जो उत्थान की आवश्यकता समझते और तदनुरूप जीवनक्रम अपनाते हैं, इस दिशा में तत्परता दिखाते हैं, वे सर्वतोमुखी प्रगति करते और मनुष्य जीवन के श्रेय-सौभाग्यों से कृतकृत्य होते हैं, किंतु जो इसकी उपयोगिता-आवश्यकता नहीं समझते और वासना, तृष्णा, अहंता के क्षुद्र प्रयोजनों तक ही सीमित रहते हैं, वे मृग, तृष्णा की तरह भटकते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते एवं मनुष्य जन्म के दिव्य वरदानों से सदा के लिए वंचित रह जाते हैं ।

तुलसीदास जब तक इंद्रियों और वासनाओं के कुचक्र में फँसे रहे, तब तक वे सामान्य से व्यक्ति बने रहे और सामान्य स्थिति में पड़े रहे, पर जैसे ही इन क्षुद्र लिप्साओं से उबरने की उनकी ललक जगी और इसके लिए साधनात्मक प्रयास आरंभ किया, तो वे रामायण के प्रणेता तुलसीदास बन गए ।

कालिदास की पत्नी के प्रति जब मोह भंग हुआ तो

संस्कृत के महान कवि बन गए । उनकी अमर कृतियाँ स्वतः उनकी विरुदावली गाती हैं ।

प्रकारांतर से यह आत्मपरिष्कार की ही फलश्रुतियाँ हैं, पर देखा जाता है कि समाज में बहुलता आज लोभ-लिप्सा के निकृष्ट उद्देश्यों में संलिप्त लोगों की है । ऋषि कहते हैं कि जो इनसे ऊपर उठने की बात सोचते हैं और तदनुरूप रीति-नीति अपनाते हैं, बुद्धिमान वस्तुतः वही हैं, उत्थान ऐसे ही लोगों का हो पाता है ।

कारणं पतनस्यैकं बहुसंख्यकसंमताः ।
नरास्तु पशुतुल्या ये तेषामंधानुसंसृतिः ॥ ३७ ॥
विज्ञा विवेकवंतो हि श्रयंतं दूरदर्शिताम् ।
स्वतंत्रं गततथ्यास्ते यांति सिद्धांतसंमतम् ॥ ३८ ॥
न भवन्ति परापेक्षाः सिद्धान्तानां क्रियान्वितौ ।
स्वं दृष्टिकोणं चिन्वन्तो रीतिनीति श्रयन्ति स्वाः ॥ ३९ ॥
आदर्शमार्गं चलितुं शक्ता एकाकिनस्तु ते ।
मनस्विनो वदन्त्येतास्तेजस्विन इहापि च ॥ ४० ॥
सार्थक्यं जीवनस्यैतेऽनुभवन्ति नरा मुने ।
निश्चितं च स्वतो धन्या वदान्या जगतीतले ॥ ४१ ॥

टीका—पतन का एक ही कारण है बहुमत वाले नर-पशुओं के चिंतन और व्यवहार का अंधानुकरण । विज्ञान, विवेकवान होते हैं, दूरदर्शिता अपनाते हैं, तथ्यों पर स्वतंत्र विचार करते और सैद्धांतिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । सिद्धांतों के क्रियान्वयन में वे परमुखापेक्षी नहीं होते । वे अपना दृष्टिकोण स्वयं बनाते और अपनी रीति-नीति स्वयं निर्धारित करते हैं । आदर्श मार्ग पर एकाकी चल सकने वाले साहसी लोग ही मनस्वी-तेजस्वी कहलाते हैं । जीवन की सार्थकता का अनुभव निश्चित रूप से इसी स्तर के लोगों को होता है । हे मुने यही लोग पृथ्वी पर धन्य हैं ॥ ३७-४१ ॥

यहाँ नरपशु स्तर के व्यक्ति और विवेकशील के मध्य का अंतर स्पष्ट किया जा रहा है । नरपशुओं की तुलना भेड़ों से की गई है । कहा जाता है कि भेड़ों की चाल अंधी होती है । पूरा भेड़-समुदाय उसी का अनुगमन करने लगता है, भले ही अग्रिम भेड़ गड्डे में गिर रही हो, इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती और सभी उसके साथ-साथ गड्डे में गिर पड़ती हैं । अंधीचाल-अंधानुकरण इसे ही कहा गया है ।

नरपशु इसी स्तर के होते हैं । वे अपना स्वतंत्र चिंतन व विवेक का प्रयोग नहीं करते और प्रवाह में बहते हैं । हवा जिस दिशा में बहती है, उसी में सम्मिलित हो जाते हैं, धारा को चीरकर प्रवाह बदलने का साहस उनमें नहीं होता, फलतः पतन-पराभव के गर्त में जा गिरते हैं ।

आज समाज में ऐसे ही लोगों का बाहुल्य है । विभिन्न प्रकार की प्रथा-परंपराएँ अवांछनीयताएँ, मूढ़-मान्यताएँ जिनकी

५.१४ प्रज्ञोपनिषद्

कि आज की परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं, ऐसे ही नरपशुओं के कारण जी रही हैं।

जबकि विवेकशीलों को दूरदर्शी कहा गया है। दूरगामी परिणतियों को ध्यान में रखकर वे अपनी रीति-नीति बनाते हैं। तथ्यों पर उनका स्वतंत्र चिंतन और निष्कर्ष होता है। उनकी अपनी कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही वे किसी तथ्य पर विचार करते और उसे क्रियान्वित करने की बात सोचते हैं तथा समय आने पर प्रवाह को चीरकर मछली की तरह आगे बढ़ने की भी सामर्थ्य रखते हैं।

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि ऐसे ही लोग अपना मनुष्य जीवन सार्थक और धन्य बना पाते हैं।

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात ! आत्मपरिष्कारश्चतुर्विध इहोदितः।

समीक्षा संस्कृतिश्चास्य विकासो निर्मितस्तथा ॥ ४२ ॥

मनुष्यस्तरतो हेया मान्यताः प्रकृतीस्तथा।

दुष्प्रवृत्तीश्च विज्ञाय समीक्षक इव स्वयम् ॥ ४३ ॥

हानीस्तासां च विज्ञाय तासां निष्कासनस्य च।

अनिवार्यानुभूतिस्तु प्रोक्त मात्मसमीक्षणम् ॥ ४४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य ने कहा है तात ! आत्म परिष्कार के चार उपाय हैं आत्म समीक्षा, आत्म सुधार, आत्म निर्माण और आत्म विकास। मनुष्य स्तर से गए बीते स्तर की मान्यताओं और आदतों को अपने व्यक्तित्व के स्तर की दुष्प्रवृत्तियों को कटु समीक्षक की तरह ढूँढ़ निकालना, उनकी हानियों को समझना तथा उनके निष्कासन की आवश्यकता अनुभव करना ही आत्म समीक्षा है ॥ ४२-४४ ॥

विभिन्न योनियों से गुजरता हुआ जीव मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। विकास की इस लंबी यात्रा के दौरान वह निम्न योनियों के निम्न संस्कारों को पूरी तरह नहीं छोड़ पाता और उनके कुछ संस्कार अंतःकरण में जमे रह जाते हैं। मनुष्य जन्म में कषाय-कल्मषों के रूप में विद्यमान इन हेय संस्कारों को हटाना आवश्यक होता है, अन्यथा इस योनि की अपनी गौरव गरिमा घटती है। आत्मशोधन की इसी प्रक्रिया को आत्म परिष्कार के नाम से पुकारा गया है। इसके लिए मनुष्य का स्वयं का प्रयत्न-पुरुषार्थ अभीष्ट होता है। जो इस प्रक्रिया को संपन्न करने का पराक्रम दिखा पाते हैं, वह महामानव, देवमानव स्तर के ऋषि तुल्य बन जाते हैं, पर जो ऐसा नहीं कर पाते, वे क्षुद्र स्तर में पड़े-पड़े ही अपना जीवन गुजार देते हैं।

आत्मशोधन की इसी प्रक्रिया को समझाते हुए ऋषि यहाँ इसके चार आवश्यक सोपानों का वर्णन करते हैं, जिसका प्रथम चरण आत्मसमीक्षा है। आत्मसमीक्षा अर्थात् मनुष्य जन्म की गौरव-गरिमा और उद्देश्य को समझाते हुए अपने अंदर

विद्यमान हेय स्तर की इच्छाओं-आकांक्षाओं, आदतों, मान्यताओं को खोज निकालना, इनके दुष्परिणामों को समझना और इनके निष्कासन की बात सोचना।

पर विडंबना यह है कि समाज में आज लोग इस आवश्यकता को अनुभव नहीं करते, फलतः इस संदर्भ में उनसे किसी प्रकार का प्रयास भी करते नहीं बन पड़ता।

स्वस्मिन्वांछनीयं यद् गरिम्माः प्रतिकूलगम्।

निकृष्ट प्राणियोग्यं यत्तस्यदूरापसारणम् ॥ ४५ ॥

तथा नरगरिम्माश्चानुरूपं दृष्टिकोणकम्।

स्वीकर्तुं योजनारंभोऽन्वितिश्चास्यात्मसंस्कृतिः ॥ ४६ ॥

आत्मन आत्मनेत्यर्थं संघर्षः कर्तुमिष्यते।

चर्चितः स तपश्चर्या - मनोनिग्रहसंयमैः ॥ ४७ ॥

अस्मिन्नेव शुभे मार्गे ये चलन्ति तु मानवाः।

आत्मसंस्कारवन्तस्ते जगत्कुर्युः सुसंस्कृतम् ॥ ४८ ॥

टीका—अपने में जो अवांछनीय है मानव गरिमा के प्रतिकूल तथा निकृष्ट योनि वाले प्राणियों के योग्य है उसे हटाने तथा मानवी गरिमा के अनुरूप दृष्टिकोण अपनाने की योजना बनाना उसे कार्यान्वित करना आत्मसुधार है। इसके लिए अपने आपके साथ कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इसी पराक्रम को मनोविग्रह, संयम, साधना तथा तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। इसी मार्ग पर चलने वाले आत्मसुधार कर पाते हैं और जगत को भी सुधार देते हैं ॥ ४५-४८ ॥

आत्म परिष्कार का दूसरा चरण ऋषि ने आत्मसुधार के रूप में बताया है। इसमें जीवन की ऐसी रीति-नीति निर्धारित और क्रियान्वित करनी पड़ती है, जिससे अपने अंदर की अवांछनीयताओं, अनुपयुक्तताओं, दुष्प्रवृत्तियों हेय स्तर की इच्छाओं-आकांक्षाओं को कठोरतापूर्वक निष्कासित कर स्वयं को सुवर्ण की भाँति खरा बनाया और मानवी गरिमा के अनुकूल जीवनचर्या अपनाया जा सके।

आत्मशोधन प्रक्रिया का यह सबसे कठिन चरण है। इसमें पहाड़ को छेड़ने वाली दीमक जैसा धैर्य और संकल्प बल का परिचय देना व प्रतिकूल प्रवृत्तियों से कठोर संघर्ष कर उन्हें परास्त करना पड़ता है। इससे कम में वह पुरुषार्थ नहीं बन पड़ता, जिससे आत्मसुधार का प्रयोजन सध सके। प्रकारांतर से यही पुरुषार्थ संयम साधना, मनोनिग्रह और तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। जो इस प्रक्रिया का अवलंबन लेते हैं, वे निश्चित रूप से अपना और संसार का सुधार करते हैं।

नवीनस्तु शुभारंभ, आत्मनिर्मितिरुच्यते।

यासां तु सत्प्रवृत्तीनामभ्यासोऽभून्न जीवने ॥ ४९ ॥

जीवनस्य तु चर्यायां तासां नव्यतयान्वितिः।

नरस्य सृजनात्मिक्याः प्रवृत्तेस्तत्प्रमाणकम् ॥ ५० ॥

आत्मनिर्माणमेवास्ति भाग्यनिर्माणमुज्ज्वलम् ।
इत्थं यत्नरता विश्वभविष्यद् भावयन्त्यलम् ॥ ५१ ॥
अवाञ्छनीयतोच्छेदो वाञ्छितस्य च संस्थितिः ।
पूरकौ तौ मतौ नूनं विद्वद्भिस्तु परस्परम् ॥ ५२ ॥
अनुपयुक्तसंस्कार उपयुक्तप्रतिष्ठितिः ।
मिलित्वा कायकल्पस्य रूपे दृष्टिपथं ब्रजेत् ॥ ५३ ॥
समर्था य इदं कर्तुं कृतकृत्या भवन्ति ते ।
भाग्यवन्तश्च कथ्यन्ते मोदन्त उभयत्र च ॥ ५४ ॥

टीका—आत्मनिर्माण नया शुभारंभ है। जिन सत्प्रवृत्तियों का अभी अभ्यास नहीं हो पाया है, उनको नए सिरे से जीवनचर्या में समावेश करने का कार्य मनुष्य की सृजनात्मक विशेषता का प्रमाण है। आत्मनिर्माण का नाम ही भाग्यनिर्माण है। ऐसे प्रयत्नरत ही विश्व के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने में समर्थ होते हैं। अवाञ्छनीयता का निष्कासन और वाञ्छनीयता का संस्थापन परस्पर पूरक हैं ऐसा विद्वानों का मत है। अनुपयुक्त का सुधार और उपयुक्त का प्रतिष्ठान मिलाकर ही कायकल्प के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जो यह कर सकते हैं, वे ही कृतकृत्य होते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों में सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ४९-५४ ॥

निर्माण स्वयं में एक कला है। यह चाहे आत्मिक क्षेत्र का हो अथवा भौतिक क्षेत्र का, इसमें कुशल कारीगरी का परिचय देना पड़ता है, संयम व धैर्य अपनाना पड़ता है, तभी समग्र सुंदरता की बात बनती है। मूर्तिकार यदि मूर्तियाँ बनाने में जल्दबाजी करें, तुरंत-फुर्त में वह उन्हें गढ़ना चाहे तो, वह मात्र खिलवाड़ बनकर रह जाएगा। उसका वह मूल्यांकन नहीं हो पाएगा, जो तत्परतापूर्वक बनाई गई मूर्ति का हो। इसके लिए उस स्तर का परिश्रम आवश्यक है।

आत्मनिर्माण भी ऐसी ही प्रक्रिया है। इसमें नई सत्प्रवृत्तियों का जीवन में समावेश करना पड़ता है धीरे-धीरे उन्हें व्यवहार व आचरण में उतारना पड़ता है। इस प्रकार अनगढ़ व्यक्तित्व को सुगढ़ साँचे में ढालने का कार्य प्रारंभ होता है। फिर लगातार प्रयास के द्वारा उसे तरासा और आकर्षक बनाया जाता है। तब कहीं जाकर व्यक्तित्व की एक ऐसी अभिनव व उत्कृष्ट संरचना खड़ी हो पाती है, जिस पर गर्व किया जा सके। इस स्तर से कम में न तो मूर्ति बनाने वाले की महिमा है और न व्यक्तित्व की गरिमा। संगतरास की महिमा विग्रह की सुगढ़ता, उसकी जीवंतता में होती है, जबकि व्यक्तित्व की गरिमा उसकी उत्कृष्टता व श्रेष्ठता में है। इसी का अभ्यास प्रयास इस प्रक्रिया के दौरान किया जाता है। प्रकारांतर से यही व्यक्तित्व निर्माण है। आत्मनिर्माण इसी को कहते हैं।

आत्मनस्तु विकासः स कथित आत्मविस्तारः ।

महाव्यक्तित्व संपन्ना वसुधैव कुटुंबकम् ॥ ५५ ॥

सिद्धांतं जीवने नूनमन्वयन्ति दिने दिने ।
विभजन्तस्तु दुःखानि सुखानि वंटयन्ति ते ॥ ५६ ॥
स्वीया एव समे तेषां यदात्मत्वं विवर्धते ।
उदारसहकारित्वं विकासमधिगच्छति ॥ ५७ ॥
संकीर्णस्वार्थ - संत्यागो भवबंधन - मोचनम् ।
चिंतनस्य प्रयासस्य सत्स्थितिर्मुक्तिरुच्यते ॥ ५८ ॥
आदर्शापि - व्यक्तित्वा ईश्वरैक - परायणाः ।
कथ्यन्ते लघ्वहं भूमि दत्त्वा ते परमात्मताम् ॥ ५९ ॥
यांति आत्मनं उच्चां तां पदवीं जीवनस्य च ।
लक्ष्यमेतदभीष्टं च परमात्मन एव तु ॥ ६० ॥
स्तरमेनं तु यं यांति पूर्णतां प्राप्नुवन्ति ते ।
मनःस्थितिर्गतिश्चैव येषां चापि गतेः स्तरम् ॥ ६१ ॥
सच्चिदानंदसान्निध्यं परब्रह्मण एव ते ।
आप्नुवन्ति सदा दिव्यं दर्शनं कुर्वन्ते प्रभो ॥ ६२ ॥
दैवानिर्वचनीयस्य संतोषस्य सदैव तु ।
उल्लासस्य च कुर्वन्ति तेऽनुभूतिं नरर्षभ! ॥ ६३ ॥

टीका—आत्मविकास का अर्थ है आत्मविस्तार। महान व्यक्तित्व वसुधैव कुटुंबकम् का सिद्धांत व्यावहारिक जीवन में क्रियान्वित करते हैं। वे दूसरों का दुःख बँटाते और अपना सुख बँटाते हैं। उनके लिए सभी अपने होते हैं। आत्मीयता बढ़ेगी तो उदार सहकारिता भी विकसित होगी ही। संकीर्ण स्वार्थपरता से छुटकारा पाना ही भवबंधनों से छूटना है। चिंतन और प्रयास का सदुद्देश्यों में लग जाना ही मुक्ति है। आदर्शों के लिए समर्पित व्यक्ति ही ईश्वरपरायण कहलाते हैं। क्षुद्र अहंता को विराट् में समर्पण करने वाले ही आत्मा की सर्वोच्च पदवी परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यही जीवन का लक्ष्य और परमेश्वर को अभीष्ट है। पूर्णता इसी स्तर पर पहुँचने वाले को प्राप्त होती है। जिनने अपनी मनःस्थिति और गतिविधि इस स्तर की बना ली, उन्हें निरंतर सच्चिदानंद परब्रह्म की निकटता का दिव्य-दर्शन होता है और देवताओं के समान अनिर्वचनीय संतोष-उल्लास का सतत अनुभव होता रहता है ॥ ५५-६३ ॥

ऋषि यहाँ आत्मविकास के चार सूत्र बताते हैं—

- (१) संकीर्ण स्वार्थपरता से छुटकारा पाना।
- (२) चिंतन-प्रयास को सत्प्रयोजनों में लगाना।
- (३) आदर्शों के प्रति व्यक्ति का समर्पण।
- (४) क्षुद्र अहंता का विराट् में समर्पण।

आत्मविकास अर्थात् आत्मविस्तार के प्रारंभिक चरण के रूप में व्यक्ति को अपनी संकीर्णताओं से ऊपर उठना पड़ता है, स्वजन-संबंधियों छोटे दायरे से निकलकर बाहर आना पड़ता है, अपने लाभ और भलाई के बारे में न सोचकर सबसे पहले समाज के बारे में सोचना और यह निर्धारित

५.१६ प्रज्ञोपनिषद्

करना पड़ता है कि जो कार्य किया जा रहा है, उससे समाज को क्या और कितना लाभ है, इसी में इस प्रथम शर्त की पूर्णता है। प्रकारांतर से इसमें अपने संकीर्ण स्वार्थ को उच्चस्तरीय स्वार्थ की दिशा में मोड़ना और दृष्टिकोण को इतना व्यापक बनाना पड़ता है कि व्यक्ति विश्व को अपने ही परिवार के रूप में स्वीकार कर सके। इतना बन पड़ने के बाद इस विश्व-परिवार को समुन्नत बनाने की दिशा में कदम बढ़ाने पड़ते हैं। चिंतन और प्रयास को ऐसे सत्प्रयोजनों में नियोजित करना पड़ता है, जिससे सिरों को उठाने, पिछड़ों को बढ़ाने, दुखियारों का दुःख बाँटने और सुख बाँटने, निर्धनों की सहायता करने जैसे सदुद्देश्य सध सकें। जीवनमुक्ति इसे ही कहा गया है।

स्वर्गमुक्ति की पौराणिक मान्यता तो परलोक संबंधी है। इसका मिलना-न-मिलना मरणोत्तर जीवन की बात है। लौकिक जीवन में मनुष्य उसका सुखोपभोग कहाँ कर पाता है? पर ऋषि कहते हैं कि जो स्वयं को ऐसे सत्प्रयोजनों में नियोजित कर लेता है, वह हाथों-हाथ इसी जीवन में स्वर्ग मुक्ति का आनंद लाभ लेता है। सीमित-संकीर्ण परिधि में पड़ा रहना ही भव-बंधन कहा गया है। इससे बाहर निकलना ही व्यामोहों से छूटना और भवबंधनों से मुक्ति है।

पर आज बहुधा देखा यह जाता है कि बहुसंख्य लोग कूपमंडूक की तरह अपनी ही दुनिया में खोए रहते हैं। समय और संसार को उनकी कितनी आवश्यकता है, इसकी तनिक भी परवाह किए बिना अपने निरंकुश कार्यप्रणाली में संलग्न रहकर अपने ही प्रवाह में प्रवाहमान होते हैं, उसी गति में बहते रहते हैं, भले ही उससे देश और समाज को कितनी ही हानि क्यों न हो, किंतु वे अपना लाभ लेने से चूकते नहीं। सत्य प्रयोजन और उत्कृष्ट चिंतन अपनाने की बात तो दूर रही, वे स्वयं को इसके आस-पास भी नहीं महसूस कर पाते।

कश्यप उवाच-

अंतःक्षेत्र - परिष्कारं चतुश्चरण - लक्षणम् ।

व्याख्याय भवता नूनं वयं सर्वेऽनुकंपिताः ॥ ६४ ॥

कृपयेदं भवान् ब्रूतां यन्नेषु कथं त्विमान् ।

सिद्धांतान् हि फलीभूतान् कर्तुं सा क्षमतोदयेत् ॥ ६५ ॥

बहिरंगान्तरंगे तेऽप्यभ्यास प्रक्रिये तु ये ।

ताभ्यामिमांश्चगृह्णतः कथं सिद्धीरवाप्नुयुः ॥ ६६ ॥

टीका—कश्यप बोले हे प्रभु आपने अंतःक्षेत्र के परिष्कार के चारों चरणों को स्पष्ट करके हम सभी पर बड़ा अनुग्रह किया है। अब कृपा करके यह और बताएँ कि मनुष्य में इन सिद्धांतों का फलीभूत करने की क्षमता कैसे विकसित हो? अंतरंग एवं बहिरंग अभ्यास प्रक्रिया द्वारा उन्हें आत्मसात्

करते हुए साधक सिद्धियाँ कैसे प्राप्त करें? ॥ ६४-६६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

तात प्रश्नस्तवैषोऽस्ति विचार - परिशीलितः ।

तथ्यान्वेषि मतिद्योत्यः सावधानं ततः शृणु ॥ ६७ ॥

उपायौ द्वौ मतावात्म समीक्षण - कृते तथा ।

आत्मसंस्कृति-निर्माण-विकासानां कृतेऽपि च ॥ ६८ ॥

एकांतचिन्तनं चापि मननं प्रथमस्तथा ।

स्वाध्यायः स च सत्संगो बाह्य साधनजौ मुने ॥ ६९ ॥

चिंतने वर्तमानस्य भूतस्य पर्यवेक्षणम् ।

मनने तु विकासाग्रयोजना निर्मितस्तु य ॥ ७० ॥

ततो निर्धारणोन्मेषः साहसोत्साहजो भवेत् ।

स्वाध्यायो जायते तस्य साहित्यस्य सतो मुने ॥ ७१ ॥

आत्मनः स्तरमुनेतुमर्हमन्तः समाहितुम् ।

उत्कृष्ट चिंतना ये तु सादर्शचरितास्तथा ॥ ७२ ॥

परमार्थपरास्तेषां नृणां संगः सुसंगतिः ।

तुलितः पारदेनैव मणिना निर्मलेन तु ॥ ७३ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात यह प्रश्न आपकी विचारशीलता एवं तथ्यान्वेषी बुद्धि का परिचायक है। आप सभी इस विवेचन को ध्यानपूर्वक सुनें।

आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास की चार सीढ़ियों को पार करने के लिए दो उपाय हैं, एकांत विचारणा के रूप में चिंतन और मनन। दूसरा बाह्य साधनों के सहारे उपलब्ध होने वाला स्वाध्याय-सत्संग। चिंतन में भूत और वर्तमान का पर्यवेक्षण किया जाता है। मनन में विकासोन्मुख योजना बनाने से लेकर निर्धारणों को कार्यान्वित करने की उत्साह और साहस से भरी-पूरी तैयारी की जाती है। स्वाध्याय उस साहित्य का होता है जो आत्मिक स्तर ऊँचा उठाने और अंतःक्षेत्र की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सके। सत्संग उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श चरित्र वाले परमार्थ परायण महामानवों के सान्निध्य को कहते हैं। उसे पारसमणि की उपमा दी गई है ॥ ६७-७३ ॥

फैक्ट्री में कर्मचारियों के ऊपर एक निरीक्षक होता है। समय-समय पर वह उनके द्वारा किए कार्यों का निरीक्षण-पर्यवेक्षण करता रहता है और जो गलतियाँ देखता है, उसे सुधारने का परामर्श देता है। इससे दोनों को लाभ होता है कर्मचारियों की गुणवत्ता बढ़ती, भूल घटती है और फैक्ट्री को भी आर्थिक घाटा नहीं उठाना पड़ता। यह निरीक्षण का परिणाम हुआ।

आत्मक्षेत्र में व्यक्तिगत जीवन में भी ऐसी ही रीति-नीति अपनानी पड़ती है। मनुष्य से गलतियाँ होना स्वाभाविक है। जाने-अनजाने उससे छोटे-बड़े स्तर की गलतियाँ होती रहती हैं। समय रहते यदि उनका सुधार परिष्कार नहीं किया गया,

तो वह जीवन का एक अंग बन जाती है, आदत में सम्मिलित हो जाती है और उनका निष्कासन कठिन हो जाता है, इसलिए समय-समय पर आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें यह देखा जाता है कि जीवन-प्रवाह सही दिशा में बह रहा है या नहीं। कोई ऐसी गलती या त्रुटि तो नहीं हो रही है, जो उसे दिग्भ्रान्त करने का सरंजाम खड़ी कर दे भूत और वर्तमान संबंधी इसका लेखा-जोखा तैयार करना पड़ता है। यही चिंतन है। आत्मचिंतन के रूप में इसी का सफल संपादन किया जाता है।

फिर मनन की बारी आती है। आत्मचिंतन के दौरान ढूँढ़ी गई भूलों को सुधारने का प्रयास इसमें आरंभ किया जाता है और साथ-साथ ऐसी गतिविधियाँ अपनानी और योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, जो जीवन को समुन्नत बना और ऊँचा उठा सकें।

यह चिंतन-मनन की प्रक्रिया हुई, किंतु इससे भूल सुधार और आत्मपरिष्कार की आधी-अधूरी ही बात बनती है। आगे के उत्थान के लिए महामानवों-मनीषियों का आश्रय लेना पड़ता है। स्वाध्याय-सत्संग इसी प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। इनकी आवश्यकता आज इसलिए भी अधिक महसूस की जा रही है, कि समाज तमसाच्छन्न है। चारों ओर असुरता और अराजकता का ही साम्राज्य है। इनमें जकड़ा मनुष्य अशुभ सोचता और अनर्थ ही करता है। एकपक्षीय दबाव से ऐसी ही परिणति की आशा भी की जा सकती है। जब एक पक्ष के ही बयान, सबूत और वकील काम करे, दूसरी ओर से कोई कुछ कहने-करने वाला ही न हो, तो फिर मुकदमे का फैसला एक तरफा ही होगा। श्रेष्ठता की शक्तियों को भी हमारे ऊपर प्रभाव डालने का अवसर मिले, तो उत्कृष्टता की दिशा में भी कुछ करते बन पड़े यह कार्य स्वाध्याय-सत्संग से ही पूरा हो पाता है।

वस्तुतः यह एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं। मनीषियों और महापुरुषों के साथ प्रत्यक्ष संपर्क को सत्संग तथा साहित्य के माध्यम से परोक्ष मार्गदर्शन को स्वाध्याय कहा गया है। स्वाध्याय प्रायः उस साहित्य के पठन-अध्ययन को कहते हैं, जो समय के प्रवाह को परिस्थितियों, मनःस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सिद्धांतों का व्यवहार के साथ तालमेल बिटाने वाला परामर्श उपलब्ध कर सके और आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने व आत्मोत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करने का सुयोग बना सके। यह कार्य इतिहास पठन अथवा पुरातन प्रचलन को तलाश करते रहने से किसी भी प्रकार पूरा नहीं हो सकता। इस प्रयोजन की पूर्ति युग-पुरुषों के श्रेष्ठ साहित्य से ही हो सकती है। सत्साहित्य इन्हें ही कहते हैं। इसी कारण स्वाध्याय को साधना के समतुल्य ही आवश्यक एवं श्रेयस्कर माना गया

है।

दूसरा पक्ष सत्संग कहलाता है। बुद्धिजीवियों के लिए स्वाध्याय की जितनी महत्ता बताई गई है, जनसामान्य के लिए सत्संग का वही महत्व है। सत्संग उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाने और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली शिक्षा को कहते हैं, जो प्रायः महामानवों के सान्निध्य से प्राप्त होती है। कहा जाता है कि चंदन वृक्ष के आस-पास की झाड़ियों में सुगंध आ जाती है, पारस को छूकर लोहा, सोना बन जाता है, स्वाँति बूद के संसर्ग से सीप मोती पैदा करती है, केले में कपूर उत्पन्न होता है और बाँस वंशलोचन बनाता है। प्रकारांतर से यह सत्संग सान्निध्य के ही प्रभाव हैं। रामायण में इसे ही काक होहि पिक बकहु मराला के रूप में अभिहित किया गया है। जब कुसंग का प्रभाव व्यक्ति को कुमार्गगामी बना सकता है तो कोई कारण नहीं कि सत्संग अपना अच्छा प्रभाव न छोड़ सके। यदि व्यक्ति सत्संग की शिक्षा अपने जीवन में अपना सके, चिंतन-चरित्र व्यवहार में उतार सके, तो निश्चय ही वह महामानवों की तद्रूपता प्राप्त कर सकता है। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अंब्रपाली सत्संग से ही सामान्य से असामान्य स्तर तक पहुँचे और महान बने।

आत्मोत्कर्षस्य विज्ञाता आधारास्तु त्वया मुने।

चत्वारो बाह्यक्षेत्रे तान् योक्तुमंतर्विधिं शृणु ॥ ७४ ॥

उत्पादन क्रियात्वेष्टा निजसीम्नि सु संभवेत्।

परिपक्वां विधातुं तां साधकः सेवितां व्रजेत् ॥ ७५ ॥

चिंतनेन दिशाप्राप्तिरादर्शाश्चरितुं तथा ।

संस्कारानिव संस्कर्तुं स्तर कार्यविधिर्ध्रुवः ॥ ७६ ॥

विचारणा-क्रियाशीलता द्वयोश्च समन्वयात्।

संस्काराः संति व्यक्तित्वं संस्काराणां समुच्चयः ॥ ७७ ॥

सत्प्रवृत्तेस्व संवृद्धिरात्मोत्कर्षोऽस्ति चिंतनम्।

उत्कृष्टं परिणयेच्चास्मै सादर्शैर्विधिर्भरः ॥ ७८ ॥

सेवापरिणतिश्चैषा कथ्यते चास्य ये विधेः।

स्वीकर्तारोऽर्जयन्त्येवं पुण्यं यावच्च हे मुने ॥ ७९ ॥

ततोऽधिकमिमे ह्यात्म-परिष्कारस्य लाभगाः।

संति सद्भाव पक्वत्वं सेविताऽऽसक्ति संभवम् ॥ ८० ॥

टीका—हे तात आत्मोत्कर्ष के चार आधार आपने सुने।

उनको अंतरंग एवं बहिरंग क्षेत्र में उतारने के उपाय भी समझे। यह उत्पादन प्रक्रिया हुई, जो निजी क्षेत्र में संपन्न हो जाती है, किंतु इसे परिपक्व करने के लिए हर साधक को सेवाक्षेत्र में प्रवेश करना होता है। चिंतन से दिशा भर मिलती है। आदर्शों को अभ्यास में उतारने और संस्कारों की तरह परिपक्व करने के लिए उसी स्तर के काम करना आवश्यक है। विचारणा और क्रियाशीलता के समन्वय से ही संस्कार बनते हैं। संस्कारों का समुच्चय ही व्यक्तित्व कहलाता है।

५.१८ प्रज्ञोपनिषद्

सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन ही आत्मोत्कर्ष है। इसके लिए उत्कृष्ट चिंतन को आदर्शवादी क्रियाकलापों में परिणत करना पड़ता है। सेवा इसी की परिणति को कहते हैं। इस रीति-नीति को अपनाने वाले जितना दूसरों की सहायता का पुण्य अर्जित करते हैं, उससे भी अधिक वे आत्म परिष्कार का लाभ उठाते हैं। सद्भावनाओं की परिपक्वता उदार सेवा परायणता में निरत रहने पर ही संभव होता है ॥ ७४-८० ॥

ऋषि यहाँ व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया समझाते हैं। व्यक्तित्व निर्माण में चिंतन की उत्कृष्टता का जितना महत्व है, उतना ही उसके क्रियान्वयन का भी। चिंतन चलता रहे, पर उसे क्रिया रूप में नहीं परिणत किया जाए, व्यवहार में नहीं लाया जाए, तो व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। कुम्हार का चाक घूमते रहने भर से ही बरतन कहाँ बन जाते हैं। इसके साथ-साथ कुम्हार के हाथों की क्रिया भी अभीष्ट होती है। दोनों के समन्वय से ही वह प्रक्रिया पूरी होती है, जिसमें अनगढ़ मिट्टी सुगढ़ बरतन बनती है।

व्यक्तित्व निर्माण भी ऐसी ही क्रिया है। इसमें विचारणा और क्रिया का समभाव आवश्यक होता है। एकपक्षीय चिंतन प्रभाव-परिवर्तन की वह भूमिका नहीं संपन्न कर पाता, जो महापुरुषों में दिखाई पड़ता है। इसी कारण चिंतन का दूसरा, क्रियात्मक पक्ष को भी जीवन में सम्मिलित करने पर जोर दिया जाता है। इसके लिए स्वयं को कर्मक्षेत्र में उतारना पड़ता है, सेवा कार्य अपनाना पड़ता है, तभी उसका व्यावहारिक जीवन में सफल अभ्यास शक्य-संभव हो पाता है और वह स्थिति बन पड़ती है, जिसमें कथनी और करनी में मनसा-वाचा-कर्मणा में एकरूपता दीख पड़े। दोनों के समन्वय से ही संस्कार रूपी बीज जमते और बढ़ते हैं। जब ऐसे ही संस्कारों का परिवर्द्धित-अभिवर्द्धित कर लिया जाता है, तो महामानवों जैसा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। फिर ऐसे लोग जहाँ भी जिस भी स्थान अथवा वातावरण में चले जाते, वहीं अपनी छाप छोड़ते और लोगों को प्रभावित-आकर्षित करते हैं। व्यक्तित्व संपन्न इन्हें ही कहा गया है। इस निर्माण-प्रक्रिया का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे द्विविध प्रयोजन पूरा होता है। जहाँ एक ओर आत्मपरिष्कार का सुयोग बनता है, वहीं दूसरों की सेवा-सहायता द्वारा पुण्य अर्जन का लाभ मिलता है।

भौतिकैरिप कष्टैस्तु पीडितानां हि साधनैः।

साहाय्यं यत्तदप्यास्ते सेवा यद्यपि निश्चिता ॥ ८१ ॥

परं ततोऽपि सा श्रेष्ठा ययाऽन्ये सद्गुणान्विताः।

क्रियन्ते प्रेरणानां चरित्रचिन्ति बोधकम् ॥ ८२ ॥

तत्स्तरस्थ प्रयासेषु नियोजनमपि स्वयम्।

उच्चस्तरास्ति सेवैव साधना च महामुने ॥ ८३ ॥

पीडाकष्टविदः सर्वे परं पातस्य सा मुने।

परिणतिस्ततोऽप्येषा भयदा भवतीह तु ॥ ८४ ॥

साधनानां प्रदानैर्यत् पीडावारणमिष्यते।

पतनोद्धारकं श्रेष्ठं ततः सद्वृत्तिवर्द्धनम् ॥ ८५ ॥

साधनैर्ये तु संपन्नास्ते पीडावारणेरताः।

दृष्टास्तथात्मवन्तश्च सद्वृत्ति - परिवर्धकाः ॥ ८६ ॥

तेषां जीवनचर्या तु सामान्यानां तु लोभिनाम्।

सुविधाजीविनां तात दृष्ट्या भिन्नेव दृश्यते ॥ ८७ ॥

टीका—सेवायों, भौतिक कष्टों से पीड़ितों की साधनों की सहायता से करने को भी कहते हैं। किंतु उससे भी ऊँची वह है जिसमें दूसरों को सद्गुणी बनाया जाता है। चिंतन और चरित्र को ऊँचा उठाने वाली प्रेरणाएँ देना, उस स्तर के प्रयासों में नियोजित कर देना उच्चस्तरीय सेवा साधना है। पीडा का कष्ट सभी जानते हैं किंतु पतन की परिणति और भी अधिक भयावह होती है। अस्तु पीडा निवारण की साधन-सहायता से भी बढ़कर पतन से उबारने वाले सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन को महत्व दिया जाता है। साधन संपन्न पीडा निवारण का और आत्मवान् सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का प्रयास करते देखे गए हैं। उनकी जीवनचर्या सामान्य सुविधा जीवियों-लालचियों से भिन्न स्तर की आदर्शनिष्ठ होती है ॥ ८१-८७ ॥

चिंतन और चरित्र को मनुष्य के दो सबसे बड़े बल माने गए हैं। चिंतन यदि विधेयात्मक हो, तो व्यक्ति बुरी-से-बुरी स्थिति को हँसते-हँसते पार कर सकता है और उत्कृष्ट चिंतन के माध्यम से श्रेय, सम्मान, सहयोग सब कुछ अर्जित किया जा सकता है। शरीर, मन से भी स्वस्थता बनी रहती है और प्रसन्नता का अतिरिक्त लाभ भी मिलता है। आत्मिक प्रगति का यही राज है। इसी प्रकार चरित्र यदि स्वच्छ-धवल हो, तो व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता से लोगों पर अनुकरणीय छाप छोड़ सकता है और बाह्य दीन-हीन स्थिति होते हुए भी चिंतन-चरित्र द्वारा अपनी आंतरिक स्थिति सशक्त-सबल बनाए रख सकता है। ऋषियों-योगियों के संदर्भ में ऐसी ही बात देखी जा सकती है। भौतिक दृष्टि से वे विपन्न ही दीखते हैं, पर उनका आत्मबल इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि वातावरण और परिस्थिति को उलटने-पलटने जैसा करतब कर दिखाते हैं। खुद तो आत्मवान होते ही हैं, अन्य अनेकों को उस राह पर घसीट ले आते हैं। यह प्रकारांतर से उत्कृष्ट चिंतन-चरित्र की ही परिणति हुई, पर यदि दोनों ही क्षेत्रों में दिवालियापन आ जाए, तो स्थिति अत्यंत भयावह हो जाती है। फिर उस व्यक्ति की स्थिति भँवर में फँसे उस नाविक जैसी होती है, जिससे बाहर तो निकलते नहीं बन पड़ता, उलटे और उसमें उलझता चला जाता है। ऐसी स्थिति में यदि

उसे कोई बाह्य सहारा नहीं मिला, तो भँवर में डूब जाना सुनिश्चित होता है।

चिंतन और चरित्र से पतित लोगों के साथ ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस वक्त यदि उन्हें महापुरुषों, महामानवों का सत्परामर्श नहीं मिल पाए तो वे अधःपतन के शिकार बन जाते हैं, जिससे पुनः उबर पाना उनके लिए संभव नहीं हो पाता।

पर भौतिक कष्टों से पीड़ित लोगों की स्थिति इससे भिन्न होती है। उन्हें सिर्फ भौतिक साधनों का अभाव होता है, अस्तु तरह-तरह की शारीरिक कष्ट-कठिनाइयाँ ही झेलनी पड़ती हैं। पतन-पराभव जैसी स्थिति नहीं आ पाती। यह तो चिंतन-चरित्र है, जिसकी निकृष्टता मनुष्य को उस ओर धकेल देती है। शरीर कष्टों से तो समयांतर में व्यक्ति स्वयं भी येन-केन प्रकारेण उबर सकता है, मगर चिंतन-चरित्र जब पतनोन्मुख हो जाए, तो उससे निकल पाना बहुत ही मुश्किल भरा काम होता है। पतन को इसीलिए पीड़ा से गंभीर माना गया है। इसी कारण ऋषि पतन-निवारण को यहाँ सबसे बड़ी सेवा बता रहे हैं।

संचयेच्छां विहायात्र प्रदर्शन - सुकामनाः ।

वपुर्यात्रा - करैस्तुष्टा शेषांशैरुपकुर्वते ॥ ८८ ॥

आत्मोन्नतिकरा ये तु न बाह्ये जगति क्वचित् ।

साधनानामहो तेषां सहयोगस्य न्यूनता ॥ ८९ ॥

महत्तैषा तु तेषां यदुच्चस्तर - सुभावगा ।

निजपेक्षतयाऽन्येषां भोगैस्तुष्टाः सुखं ययुः ॥ ९० ॥

अल्पतुष्टा नरा विप्राः साधवो परमार्थगाः ।

आभिवर्तिशेषताभिश्च युक्ता भक्ताः प्रभोः स्मृताः ॥ ९१ ॥

अजस्त्रैरनुदानैश्च प्रभोर्लाभान्विताश्च ते ।

आत्मसाधनमाबद्धं लोकस्याराधनेन हि ॥ ९२ ॥

आत्मोत्थानस्य पंथास्तु मत एषोऽत्र ये नराः ।

चलन्ति तेऽधिगच्छन्ति पतनं न पराभवम् ॥ ९३ ॥

टीका—संचय और प्रदर्शन की लालसा छोड़कर शरीर यात्रा भर के साधनों में संतोष करने वाले ही अपने यात्रा भर के साधनों में संतोष करने वाले ही अपने उपार्जन का महत्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों में लगा पाते हैं। जो आत्मिक प्रगति करते हैं उन्हें बाह्य जगत में न साधकों की कमी रहती है न सहयोग की। यह उनकी महानता है कि उच्चस्तरीय उदारता से प्रेरित होकर स्वयं खाने की अपेक्षा दूसरों को खिलाने में असंख्य गुना संतोष, आनंद अनुभव करते हैं। स्वल्प संतोषी को ब्राह्मण और परमार्थ परायण को साधु कहते हैं। इन विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति ही सच्चे ईश्वर भक्त कहलाते हैं और परमेश्वर के अजस्र अनुदानों से लाभांविता होते हैं। हे तात आत्मसाधना और लोक आराधना एक दूसरे के साथ

अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हैं। यही है आत्मिक-उत्थान का मार्ग। इस पर चलने वाले पतन-पराभव से अनायास ही बच जाते हैं ॥ ८८-९३ ॥

संतोष को सबसे बड़ा सुख माना गया है। जो हर प्रकार से संतुष्ट होते हैं, सुख का आनंद उन्हें ही मिल पाता है। आजीवन प्रसन्नता वही अनुभव कर पाते हैं। सीमित साधनों में निर्वाह करने में इन्हें ही सफलता मिल पाती है और ऐसे ही लोग अतिरिक्त संचय को पीड़ितों की, विपत्तियों की सेवा व समाज की प्रगतिशीलता हेतु बाँटने-खर्चने में अपनी उदारता दिखा पाते हैं। भारतीय संस्कृति को इसी कारण देवसंस्कृति के नाम से पुकारा गया है, क्योंकि उसमें आत्मवत् सर्वभूतेषु और वसुधैव कुटुंबकम् का विशाल दृष्टिकोण समाहित है। यह सैद्धांतिक ही नहीं, वरन् व्यावहारिक आदर्श भी है। ऋषिकाल से लेकर अब तक महामानवों के जीवन का यह एक अभिन्न अंग रहा है। वे सादा जीवन उच्च विचार की रीति-नीति अपनाते और उसे अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं। खुद तो स्वल्प निर्वाह पर गुजारा करते, पर समाज के लिए अपने उपार्जन का बड़ा भाग सुरक्षित रखते हैं। इसी कारण इन्हें देवमानव कहा गया है। बाह्य कलेवर तो इनका भी मनुष्यों जैसा ही होता है, किंतु आंतरिक संरचना सामान्य जनों से भिन्न मानवी गरिमा के अनुकूल होती है। इन्हें न संचय में रुचि होती है और न खोखले प्रदर्शन का आडंबर रचने में मन ललकता है। संचय यदि वे करते भी हैं, तो उसके पीछे लोककल्याण-परमार्थ प्रयोजन की ही भावना होती है। इसी कारण इन्हें ब्राह्मण व साधु दोनों की संज्ञा दी गई है ब्राह्मणवृत्ति से ही व्यक्ति में साधुवृत्ति आ पाती है। यदि निर्वाह खर्च सीमित न रखा जाए, तो परमार्थ परायणता कैसे बन पड़े। यही वह आदर्श है, जिससे व्यक्तिगत जीवन में किसी प्रकार का व्यसन भी नहीं पनपने पाता और परमार्थ परायणता का, समाज सेवा का सुयोग भी बन जाता है। इससे आत्मसाधना और लोक आराधना के दोनों प्रयोजन स्वतः सध जाते हैं। अपना भी कल्याण होता है और समाज कल्याण भी बन पड़ता है। भगवान के अनुदान ऐसे ही लोगों पर बरसते हैं। सच्चा ईश्वर-भक्त इन्हें ही कहा गया है।

द्वितीयेऽह्नि तु सत्संगो यस्तेनाधिकं ततः ।

समाधानमभूतेषां जिज्ञासूनां तु तत्क्षणात् ॥ ९४ ॥

सत्रावसानवेलां च समीपस्थां विलोक्य सः ।

अधिष्ठाता तु तां गोष्ठीं समाप्तां विदधे स्वयम् ॥ ९५ ॥

उपलब्धामृतोन्मेषैरानंदित - तनूरुहाः ।

जिज्ञासवस्तु संलग्नाः निशासांध्यक - कर्मसु ॥ ९६ ॥

टीका—दूसरे दिन के सत्संग से आत्मविद्या के जिज्ञासुओं का और भी अधिक समाधान हुआ। सत्र की अवसान-वेला

५.२० प्रज्ञोपनिषद्

देखकर अधिष्ठाता ने उस गोष्ठी का समापन कर दिया। और रात्रि के लिए निर्धारित कार्यक्रमों में संलग्न हो गए ॥

उपलब्ध अमृत वर्षा से आनंदित होते हुए जिज्ञासुगण संध्या ९४-९६

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शन युगसाधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि कश्यप याज्ञवल्क्य संवादे आत्म परिष्कार लोक साधना इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥